आज के समय में नागार्जुन

नागार्जुन से जुड़े कुछ सवाल आज उन पर खास ढंग से सोचने के लिए मजबूर करते हैं। मसलन आज जब कविताओं के पाठक लगातार घट रहे हैं, तब नागार्जुन की कई कविताएँ लोकप्रिय क्यों बनी हुई हैं ? या फिर कविता के जरिये समसामयिक व्यक्तित्वों पर छींटाकशी करने के बावजूद नागार्जुन आज भी लोकप्रिय क्यों हैं ? उनकी कविताएं उन व्यक्तित्वों का दौर गुजर जाने के बाद भी कमजोर क्यों नहीं पड़ीं ? दरअसल ये नागार्जुन की जनसाधारण के प्रति प्रतिबद्धता, सच्ची संवेदना तथा जनहित को ध्यान में रखकर लिखने का परिणाम है।

बिहार के किसान आंदोलन की सूचना मिलते ही नागार्जुन का, तिब्बत यात्रा बीच में ही छोड़कर आंदोलन में भाग लेने के लिए लौट आना उनकी जनसाधारण के प्रति प्रतिबद्धता का सबसे बड़ा सबूत है। साथ ही 'इन्दु जी, इन्दु जी, क्या हुआ आपको, सत्ता की मस्ती में भूल गयी बाप को' लिखकर एमरजेन्सी के लिए जिम्मेदार इन्दिरा गांधी पर सीधी चोट करना यह साबित करता है कि निर्भीक कवि नागार्जुन के लिए जनहित सर्वोपरि था। आलोचकों ने इस तरह की कविताओं पर नारेबाजी का आरोप लगाया है। हकीकत यह है कि जनता के लिए उन्हें नारेबाजी के स्तर का कवि कहलाना भी मंजूर था। नागार्जुन का यही साहस उन्हें आज भी लोकप्रिय बनाए हुए है। इसी साहस के दम पर वे बड़े तेवर के साथ कह पाते हैं–

जनता मुझसे पूछ रही है क्या बतलाऊँ
जन–कवि हूँ मैं साफ कहूंगा क्यों हकलाऊँ

समाजवादी क्रांति का बेचैनी से इंतजार करने वाले नागार्जुन ने जब यह महसूस किया कि 'क्या है दक्षिण, क्या है वाम, जनता को रोटी से काम' तब वह अपने समय के कम्युनिस्टों को देखकर कह उठे, 'कार्ल मार्क्स की दाढ़ी में जूँ' या 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तुम्हारा तुम्हें मुबारक'। हकीकत यह है कि जनसाधारण की पक्षधरता ने उन्हें कभी जड़ हो जाने या भटकने नहीं दिया। आज लोग कविता के घटते पाठकों की समस्या पर विचार करते हुए कविता को जनता से जोड़ने की बात करते हैं। कविता को जन से कैसे जोड़ा जा सकता है, इसका रास्ता हमें नागार्जुन का जीवन और उनका साहित्य दिखा सकता है। नागार्जुन के दौर के समान आज के दौर की भी यही माँग है कि कविता सच्ची संवेदना के साथ शोषितों की अगुआई करके हजारों जरूरतमंदों की जबान बने। ऐसे में नागार्जुन की 'खुरदरे पैर', 'शासन की बंदूक', 'प्रेत का बयान' जैसी कविताएँ आज के कवियों के लिए प्रेरणास्त्रोत बन सकती हैं।

नागार्जुन में समसामयिक यथार्थ को बारीक और समग्र ढंग से पकड़ने की ताकत थी। इसीलिए उनकी कविताएँ वर्षों पहले लिखी जाने के बावजूद एक खास समय की सामाजिक–राजनीतिक दस्तावेज–सी लगती हैं। उदाहरण के तौर पर 'बाकी बच गया अंडा, 'नया तरीका', 'मंत्र कविता' जैसी कविताएँ देखी जा सकती हैं। वह कहते हैं, 'ओं शब्द ही ब्रह्म है। ...ओं इसी पेट के अन्दर समा जाए सर्वहारा।'

नागार्जुन ने अपनी कविताओं में लोगों के व्यवहार के जरिये उनकी मानसिकता को उभारने के क्रम में तत्कालीन यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के तौर पर 'घिन तो नहीं आती ?' कविता को ही लें। यह कविता निम्नवर्ग और मध्यवर्ग के बीच अंतर्विरोध, मध्यवर्गीय मानसिकता और सर्वहारा वर्ग की जीवन शैली को उभारती है। यह मध्यवर्ग पर सीधी चोट करती है। नागार्जुन की कविता के मध्यवर्गीय व्यक्ति और आज के मध्यवर्गीय व्यक्ति में कोई खास फर्क नहीं है। आज का मध्यवर्गीय व्यक्ति भी निम्नवर्ग को देखकर वैसे ही नाक–भौ सिकोड़ता है, जैसे नागार्जुन के समय का मध्यवर्गीय व्यक्ति सिकोड़ता था। यह व्यक्ति पहुँचना चाहता है उच्चवर्ग के दर्जे तक, पर उसकी आर्थिक स्थिति उसे निम्नवर्ग के करीब ला पटकती है। नागार्जुन ने मध्यवर्ग की मानसिकता को बड़ी सूक्ष्मता से पहचाना था। इसीलिए अपने युग के मध्यवर्गीय लोगों से पूछा गया सवाल, 'घिन तो नहीं आती'? आज के मध्यवर्गियों के लिए भी उतना ही सही है।

नागार्जुन के साहित्य को प्रासंगिक बनाए रखने में उनके इतिहास बोध की एक बहुत बड़ी भूमिका है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि भारत में आज भी सामंती मूल्य मौजूद हैं। नागार्जुन ने देश की प्रगति में बाधक इन सामंती मूल्यों को इतिहासबोध की नई धार से काटकर नए मूल्य देने की कोशिश की थी। सामंती मूल्य ईश्वर को लें। समाज में ईश्वर को लम्बे समय से भव-बाधा से मुक्ति का साधन माना जाता है। आदमी जब ईश्वर को दुखमोचन का एकमात्र आधार मानने लगता है, वह अपनी क्षमताओं को भूल जाता है। नागार्जुन जानते थे कि समाज को आदमी ही बदल सकता है, ईश्वर नहीं। इसीलिए नागार्जुन 'कल्पना के पुत्र हे भगवान' कविता में ईश्वर से सुख ही सुख माँगने और खुद को पापी मानकर ईश्वर से क्षमा याचना करने की लम्बे समय से चली आ रही रीति पर प्रहार करते हुए कहते हैं-

कल्पना के पुत्र, हे भगवान !
चाहिए मुझको नहीं वरदान / दे सको तो दो मुझे अभिशाप
...बाप-दादों की तरह रगडूँ न मैं निज नाक-
मंदिरों की देहली पर पकड़ दोनों कान।

दरअसल मनुष्य ईश्वर से जब तक सुख माँगता रहेगा, तब तक वह स्वार्थ के घेरे में फंसा रहेगा और जोखिम उठाने से कतराता रहेगा। इस सूरत में यथास्थितिवाद को चुनौती नहीं दी जा सकती, जो आज के युग की महत्त्वपूर्ण माँग है। ईश्वर की अवधारणा से जुड़ी एक बात यह भी है कि सदियों से यह अवधारणा धनवानों का कवच रही है और गरीबों की विपदा। गरीबों की धर्मभीरुता उन्हें कहीं का नहीं छोड़ती। इसीलिए मानव चेतना से देवी शक्तियों का आतंक उतार फेंकने की जरूरत महसूस करते हुए नागार्जुन 'हजार- हजार बाहों वाली' कविता में देवी लक्ष्मी पर सीधे आरोप लगाते हैं-

जय-जय हे महारानी / दूध को करो पानी
आपकी चितवन प्रभु की खुमारी
महलों में उजाला / कुटियों पर पाला
कर रहा तिमिर प्रकाश की सवारी

ईश्वर पर अंधी आस्था सांप्रदायिकता को जन्म देती है, वक्त आने पर सत्ताधारी वर्ग इसे हवा देकर अपना काम निकालते हैं। भारत आज इस समस्या का सामना कर रहा है। इससे निपटने के लिए लोगों में वैज्ञानिक चेतना जगाना आवश्यक है। नागार्जुन की इतिहास-बोध से प्रेरित दृष्टि न सिर्फ लोगों में वैज्ञानिक चेतना जगाने में सहायक है, बल्कि वह आज के साहित्यकारों को सामंती मूल्यों से लड़ने की राह बताने में भी सक्षम है।

नागार्जुन का साहित्य बुद्धिवाद और नवजागरण से जुड़ा हुआ है। बुद्धिवाद को बढ़ावा देने वाले नवजागरण का जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा था। पर सवाल यह है कि नवजागरण का यह प्रभाव कब तक कायम रहा ? नवजागरण के सवाल हमारे बौद्धिक विकास में मददगार साबित होने के कारण आज भी सार्थक हैं। पर क्या तर्क और संदेह पर जोड़ डालने वाला बुद्धिवाद आज भी अंधी आस्था पर भारी है ? नागार्जुन की 'पछाड़ दिया है मेरे आस्तिक ने' कविता कुछ दबे और कुछ खुले ढंग से इस सवाल का जवाब देती है। इस कविता के संदर्भ में सबसे पहली बात यह उठती है कि 'हजार- हजार बाहों वाली' या फिर 'कल्पना के पुत्र, हे भगवान !' जैसी कविता लिखने वाला कवि अपने आस्तिक मन के हाथों आखिर कैसे हार जाता है ? इस सवाल पर विचार करने के क्रम में इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि इस कविता के उत्तरार्द्ध में नदी-तट पर पहुँचकर सूर्य को अर्घ्य देने की बात करने वाला कवि तट तक का सफर तय करते समय अपना बचपन वापस पा जाने की खुशी में मग्न था। वह अगहिनी धान की दुद्धी मंजरियों, पंकिल कछार में दुधारू भैंस के खुरों के निशान, शीशम के झुरमुट से उड़ते नीलकंठ को देखने के उत्साह से भरा था। उसने सूर्य देव की बात एक बार

भी नहीं सोची, बल्कि यह सोचा कि शरद का बाल रवि उसका स्वागत करेगा। एक और बात पर गौर करना जरूरी है कि इस कविता मे सूर्य को अर्घ्य देने की इच्छा जाहिर करने से पहले कवि इस बात पर दुखी होता है।

छूट-सा गया है जनपदों का स्पर्श
हाय रे आंचलिक कथाकार

अब तक कही गयी बातों के आलोक में यह सवाल निश्चित रूप से उभरता है कि 'पछाड़ दिया है मेरे आस्तिक ने' कविता का आस्तिक क्या वाकई आध्यात्म पर आस्था रखने वाला आस्तिक है? दरअसल यहाँ 'आस्तिक' की व्याख्या अलग-अलग ढंग से की जा सकती है। उपर्युक्त सवाल का स्पष्ट उत्तर तब तक नहीं मिल सकता, जब तक हम नागार्जुन के युग में बुद्धिवाद द्वारा रचाये गए तांडव के बारे में जानकारी न हासिल कर लें। बुद्धिवाद का जो रूप नवजागरण के दौर में उभरकर सामने आया था, वह 1964 तक आते-आते काफी बदल गया। इस युग में बुद्धिवाद के चलते जहाँ साहित्यिक क्षेत्र में असुन्दर से असुन्दर वस्तु में सौन्दर्य तलाशने की प्रवृत्ति बढ़ी, वहीं गँवई धरती, आम जीवन और स्वाभाविक सौंदर्य से विच्छिन्नता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। छद्म संवेदना, दोहरी मानसिकता जैसी प्रवृत्तियाँ भी फैलीं। कुल मिलाकर इस किस्म के महानगरीय बुद्धिवाद के चलते जीवन हद से ज्यादा तनावपूर्ण हो गया। दरअसल पूंजीवादी मूल्यों ने 1964 तक बुद्धिवाद की शक्ल ही बिगाड़ दी। अब सूर्य को अर्घ्य देने की बात को नजरंदाज करके केवल कवि के रास्ते भर के रवैये पर ध्यान दें तो कविता का आस्तिक कवि गंवई सौंदर्य पर आस्था रखने वाला आस्तिक लगता है। वह बुद्धिवाद के प्रभाव से जनपदीय पृष्ठभूमि में उसके सौंदर्य के प्रति स्वयं को समर्पित कर रहा है। अगर हम 'आस्तिक' को आध्यात्मिक आस्था मानें, तब भी सूर्य को अर्घ्य देने की घटना नए बुद्धिवाद द्वारा उत्पन्न हुए नगरीय तनाव की प्रतिक्रिया मानी जाएगी; क्योंकि महानगरीय बुद्धिवाद से प्रेरित जीवन से कवि का पलभर के लिए 'डेविएशन' यह सूचित करता है कि कवि कहीं न कहीं महानगरीय जीवन से असंतुष्ट है। यह भी सच है कि असंतुष्टि मनुष्य के दिल और दिमाग को चचंल बना देती है। इस प्रकार यह 'डेविएशन' महानगरीय बुद्धिवाद द्वारा जीवन में पैदा किए गए तनाव और कश्मकश को उभार रहा है। इस बात पर भी ध्यान देना जरूरी है कि इस कविता में कवि ने सूर्य को देखकर जो कुछ किया, शहर में जाकर उससे मुकर जाने की संभावना भी व्यक्त की है। यह बात तत्कालीन बुद्धिजीवियों की कमजोरी को रेखांकित करती है। नागार्जुन द्वारा इस कविता में प्रस्तुत तमाम सूत्र आज के बुद्धिजीवियों की सोच को ऐतिहासिक शृंखला में देखने में मददगर साबित होने के साथ-साथ इस बात को जानने में भी मदद करते हैं कि शुरू से लेकर अब तक बुद्धिवाद की अवधारणा ने कितनी करवटें बदलीं।

यांत्रिकता की चपेट में आकर सरलता और संवेदना मिटती चली जा रही है। भूमंडलीकरण के जुमले के चलते स्थानीयता तो दूर की बात है, राष्ट्रीयता भी खतरे में पड़ती जा रही है। ऐसे हालात में नागार्जुन की प्रकृति से जुड़ी कविताएँ कई किस्म से मददगार साबित हो सकती हैं। आचार्य शुक्ल का कहना था कि प्रकृति-प्रेम से ही देशप्रेम जन्म लेता है। नागार्जुन की कविताओं में मौजूद गँवई प्रकृति की छटा देशप्रेम के रंग को और गहरा कर देती है। गाँव का सौंदर्य भारत का अपना वैशिष्ट्य है। नागार्जुन की कविताओं का गंवई भावबोध पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित शहरी जीवन को किसी न किसी रूप में चुनौती देता-सा प्रतीत होता है। नागार्जुन की गँवई भावबोध वाली कविताओं के बारे में एक दिलचस्प बात यह है कि ये कविताएँ भले ही नागार्जुन की जनपदीय अनुभूति का आधार लिए हुए हों, पर संवेदना के स्तर पर ये सर्वजनीन बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में उनका गाँव भारत के सभी गाँवों का प्रतिनिधि-सा बन जाता है। इस तरह स्थानीयता का रंग राष्ट्रीयता के रंग में घुलमिल जाता है। उदाहरण के तौर पर 'बहुत दिनों बाद' कविता को लें। शहरी जीवन से ऊबा कवि इस कविता में गाँव के फसलों की मुस्कान, किशोरियों की कोकिल कंठी तान, मौलसिरी के टटके फूल, पगडंडी की चंदनवर्णी धूल और तालमखाना के गन्ने पाकर सभी ज्ञानेन्द्रियों को तृप्त कर ताजा हो जाता है।

कवि ने भले ही ये चीजें अपने गाँव में पाई हों, पर अप्रत्यक्ष रूप से ये चीजें भारत के सभी गांवों को शहरों से अधिक संतोषदायक साबित करती हैं।

नागार्जुन ने गँवई भावबोध वाली कविताओं के जरिये भारत की अस्मिता को जिंदा रखने की कोशिश की है। ध्यान रहे कि नागार्जुन के समय से ही यह अस्मिता पाश्चात्य संस्कृति के तामझाम के चलते खतरे में पड़ने लगी थी। आज का शहरी जीवन बहरहाल, इसी रास्ते पर काफी दूर तक जा चुका है। ऐसे में नागार्जुन की कविताएँ आम पाठकों और आज के साहित्यकारों को यह संदेश देती है कि जीवन की सरलता और ताजगी को पाने के लिए गाँव को देखना होगा।

संवेदना के खत्म हो रहे इस दौर में प्रकृति की कविताएँ लोगों को प्रकृति के रंग में रंगने और संवेदनशील बनाने की ताकत रखती हैं। यहाँ एक बात का ध्यान रखना जरूरी है कि लोगों को प्रकृति के रंग में बोरकर संवेदनशील बनाने वाला कार्य तब तक सही अंजाम तक नहीं पहुँच सकता, जब तक आदमी को प्रकृति से जोड़ने की कोशिश न की जाए, इसे हर मानव के साथ प्रकृति का तादात्म्य स्थापित करना भी कह सकते हैं। नागार्जुन सिर्फ अपने भावों का प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं करते, बल्कि मानव मात्र के भावों का प्रकृति के साथ तालमेल बैठाने की कोशिश करते हैं। वे प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोपण नहीं करते, बल्कि मानव और प्रकृति के कार्य-व्यापारों के बीच संबंध-सूत्रों को उभारते हैं। इस संदर्भ में नागार्जुन की 'बादल को घिरते देखा है', 'अकाल और उसके बाद' जैसी कविताएँ देखी जा सकती हैं। 'बादल को घिरते देखा है' कविता में अमल धवल गिरि के शिखरों पर जलकणों का कमलों पर गिरने या फिर झीलों में हंसों के तैरने के सुंदर दृश्य ये साबित करते हैं कि प्रकृति आदमी की आँखों को तृप्त करने की ताकत रखती है। चकवा-चकई के निशाकाल में वियोग और सुबह मिलन की बात मानव-जीवन के वियोग-मिलन या फिर सुख-दुख के क्रम से आने-जाने की बात से साम्य रखती है। नागार्जुन ने इस कविता में मेघ को दूत के रूप में नहीं देखा, क्योंकि ये कल्पना की बातें हैं। उन्होंने महामेघ को झंझानिल से भिड़ते हुए देखा। उन्होंने बादल की संघर्ष-चेतना देखी। यह ध्यान में रहे कि संघर्ष-चेतना मानव जीवन की सफलता का आधार है। कुल मिलाकर देखें तो यह कविता किसी न किसी रूप में प्रकृति को मानव की सहचरी घोषित करती है। 'अकाल और उसके बाद' कविता में भी उदास चूल्हा-चक्की का प्रभाव पशु-जगत का प्रतिनिधित्व करनेवाली कानी कुतिया पर, आदमियों के निर्वासन का प्रभाव चूहों पर और घर में दाने आने का प्रभाव कौओं पर देखा जा सकता है। प्रकृति के साथ आदमी का रिश्ता ये पंक्तियाँ बखूबी उभारती हैं-

चमक उठी घर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाखें कई दिनों के बाद।

दरअसल नागार्जुन ने मनुष्य को उसके पर्यावरण के बीच रखकर देखा है आज के साहित्य में इस प्रवृत्ति का प्रसार जरूरी है। आज का मनुष्य सिर्फ अपने आप को बचाने के लिए पर्यावरण संरक्षण की बात करता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि लोग वृक्षारोपण को वन्यजीव संरक्षण से ज्यादा महत्त्व देते हैं। ऐसे में प्रकृति और मानव के संबंध को मजबूत करने वाली नागार्जुन की कविताएँ मनुष्य को अपने दायरे से बाहर निकलकर सोचने के लिए प्रेरित कर सकती हैं।

किसी भी रचना को प्रासंगिक बनाए रखने में साहित्यकार द्वारा अपनाई गई शैली एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। नागार्जुन के स्थान को साहित्य जगत् में आज तक अक्षुण्ण बनाए रखने में उनके द्वारा अपनाई गई व्यंग्य-शैली का खास योगदान रहा है। यह शैली, खासकर नागार्जुन की आक्रामक रवैये वाली कविताओं में देखी जाती है। दरअसल व्यंग्य शैली एक परमिट है जिसके सहारे लेखक की वैज्ञानिक चेतना गंभीर माने जाने वाले इलाकों में घुसकर हकीकत को चीड़फाड़ करके देखती है और जनसाधारण को वास्तव से रू-बरू कराती है। व्यंग्य के जरिए ही नागार्जुन देवी लक्ष्मी के दूध को पानी करने और अमीरों के घर उजाला करने वाले रूप

को पेश करते हैं। अंधी श्रद्धा की रूढ़ जमीन पर ऐसा प्रहार व्यंग्य-शैली के जरिए ही किया जा सकता था। बापू के तीनों बन्दरों को बापू का ताऊ बनाकर नागार्जुन अपने युग के कांग्रेसियों की पोल खोलते हैं। वे 'घिन तो नहीं आती' सवाल पूछकर उन मध्यवर्गीय लोगों की मीठी चुटकियाँ लेते हैं, जिन्हें वाकई निम्नवर्गीय लोगों से घृणा थी। इस शैली ने नागार्जुन को आज भी लोकप्रिय बना रखा है। यह शैली साहित्य और साहित्यकार में छिपी असीम सम्भावनाओं को रेखांकित करती है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि नागार्जुन की जनता के प्रति प्रतिबद्धता, यथार्थवादी दृष्टि, इतिहास बोध, समसामयिक यथार्थ को बारीक ढंग से पहचानने की ताकत, गँवई भावबोध, प्रकृति से मानव का संबंध स्थापित करने की चेष्टा और व्यंग्य-शैली कुछ ऐसे तत्व हैं, जो न सिर्फ नागार्जुन के महत्व को आज भी अक्षुण्ण बनाए हुए हैं, बल्कि वर्तमान को भी किसी न किसी रूप में लाभान्वित कर रहे हैं।